# पूज्य लालचंदभाई के प्रवचन
# श्री समयसार गाथा ३१
# देवलाली, तारीख २१-१०-१९८७, प्रवचन ३०

श्री समयसार परमागम शास्त्र है। उसका जीव नाम का अधिकार अभी चलता है। इस जीव का यानि अपना शुद्धात्मा का स्वरूप क्या है वो आज तक जीव ने जाना नहीं है। देह को जीव माना, कर्म को जीव माना, पुण्य-पाप के जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनको जीव माना, सुख-दुःख का जो वेदन होता है उसको जीव माना (परंतु) वो जीव नहीं है। जीव देह से और पुण्य-पाप के परिणाम से जुदा (भिन्न) जाननहार है; तो जाननहार जीव को एक समयमात्र जीव ने जाना नहीं है। आत्मा ने अपना असली स्वरूप क्या है, उसको जाना नहीं है। वो स्वांग आया उसको जीव जान लिया। वो तो स्वांग है।

जैसे नाटक में स्वांग आता है, वो स्वांग तो अनेक प्रकार के धारण करता है। नाचनेवाला तो एक है और स्वांग अनेक प्रकार के धारण करता है। राजा का अभिनय करता है, कभी भिखारी का, कभी ऐसा-ऐसा शराबी का, (ऐसे) बहुत स्वांग धारण करता है। तो स्वांग है वो स्वभाव से भिन्न है। स्वांग निकल जाता है और स्वभाव रह जाता है। तो तीनों काल अपना मूल स्वभाव जो ज्ञाता-दृष्टा, ज्ञान-आनंद है.... आनंदमयी आत्मा, ज्ञानमयी आत्मा है - वो इसका असली मूल स्वरूप है। तो मूल स्वरूप को नहीं पहचाना और मनुष्य की अवस्था हुई तो मैं मनुष्य हूँ, तिर्यंच की अवस्था हुई – कौआ, कुत्ता तो मैं कौआ और मैं कुत्ता हूँ और देव में गया तो मैं देव हूँ, स्त्री हुआ तो मैं स्त्री हूँ, पुरुष हुआ तो मैं पुरुष हूँ (ऐसा मान लिया)। आत्मा स्त्री नहीं है, पुरुष नहीं है। आत्मा तो स्त्री और पुरुष की जो स्वांगरूप अवस्था है उससे भिन्न चिदानंद आत्मा अंतर में विराजमान है। वो अंतर्दृष्टि से दिखाई देता है। बहिर्दृष्टि से आत्मा दिखाई नहीं देता है, देखने में आता नहीं है। जो बहिर्दृष्टि से यानि इन्द्रियज्ञान से जो देखता है, वो पर को देखता है। इन्द्रियज्ञान स्व को नहीं देखता है। आँख, कान, नाक जो ये ज्ञान का उघाड़ है भावेन्द्रिय...

द्रव्येन्द्रिय क्या और भावेन्द्रिय क्या (है) ये सुना ही नहीं जगत ने। द्रव्येन्द्रिय उसका नाम है जो ये (त्वचा) स्पर्श इंद्रिय (है), ये जीभ है (रसना) द्रव्येन्द्रिय, ये नाक है घ्राण इंद्रिय, ये (नेत्र) चक्षु इंद्रिय है; जड़-जड़ ये सब जड़ है। ये पुद्गल की अवस्था है, अचेतन है। उसमें एक ज्ञान का उघाड़ होता है, ज्ञान होता है क्षयोपशम ज्ञान जिसमें जानने की क्रिया होती है। ये जानने की क्रिया पर को प्रसिद्ध करती है तो पर में आत्मबुद्धि कर लेता है आत्मा। इससे आत्मा जुदा है। देह से जुदा, द्रव्येन्द्रिय से जुदा और देह को जाननेवाला जो ज्ञान (है), देव-गुरु-शास्त्र को जाननेवाला जो ज्ञान (है), उस (इन्द्रिय)ज्ञान से ज्ञान भिन्न है। सूक्ष्म बात है! कभी सुना ही नहीं है, विचारा नहीं है कि मेरा स्वरूप क्या है। थोड़ा पुण्य कर लो, व्रत करो, तप करो, यात्रा करो धर्म हो जाएगा। भाई! ये धर्म नहीं है। ये कर्म है; कर्म से बंध होता है। आहाहा! और धर्म से मोक्ष होता है। धर्म का अर्थ आत्मा के स्वभाव का नाम धर्म है। पुण्य-पाप का जो परिणाम होता है, शुभ और अशुभ, वो आत्मा का स्वभाव नहीं होने से वो धर्म नहीं है। और आत्मा

का ज्ञान, आत्मा का श्रद्धान वो आत्मा का स्वभाव होने से उसका नाम धर्म है। जिस धर्म के परिणाम से आत्मा को अभी वर्तमान में आत्मिक शांति मिल जावे और भविष्य में भी पूरी शांति-आनंद प्रगट हो जाये मोक्ष का, उसका नाम स्वभाव है। स्वभाव में सुख है; विभाव में दुःख है।

विभाव का अर्थ क्या कि कषाय की तीव्रता और कषाय की मंदता। तीव्र कषाय वो पाप का परिणाम (है), उस पाप के परिणाम में जीव दुःखी होता है; और कषाय की मंदता - पुण्य के परिणाम, उसमें थोड़ा कम दुःखी होता है मगर रहता है दुःखी (ही)। पाप के परिणाम में सुख नहीं (है) और पुण्य के पारिणाम में (भी) सुख नहीं (है)। हिंसा, झूठ, चोरी का परिणाम तो दुःखरूप है ही मगर अहिंसा आदि का परिणाम जो है शुभराग, वो भी दुःखदायक है क्योंकि वो आस्रव तत्त्व है। उसमें दुःख भरा है। उसमें किंचित् मात्र आत्मिक सुख का स्वाद आता नहीं है। इसलिए पुण्य-पाप के परिणाम से आत्मा भिन्न है और पुण्य-पाप के परिणाम को जाननेवाला जो इन्द्रियज्ञान उससे भी आत्मा जुदा (यानि) भिन्न है। ये अतीन्द्रियज्ञानमयी आत्मा अंदर विराजमान है। अंदर देखनेवालों को वो दिखाई देता है। देखनेवालों को दिखाई देता है। जो देखे नहीं तो दिखाई नहीं देता है। तो ये (परज्ञेय) दिखाई देते हैं।

ये विषय गंभीर चलता है। इन्द्रियज्ञान को जीतने की गाथा है। इन्द्रियज्ञान जीतने से मोह जीता जाता है। आत्मा (की) निर्मोह दशा हो जाती है। निरागी दशा नहीं होती है परंतु निर्मोह दशा होती है। वो गृहस्थ अवस्था में होती है। निरागी दशा तो जब वो घर-बार छोड़कर, कुटुंब को छोड़कर जब जंगल में जाकर साधु होता है..... साधु यानि आत्मा को निरंतर साधे उसका नाम साधु है। साधु का अर्थ क्या है? कि निरंतर अपने शुद्धात्मा की साधना करे, शुद्धोपयोग के द्वारा स्वरूप में लीन हो जावे, जहाँ संकल्प और विकल्प का उत्थान होवे नहीं, ऐसी निर्विकल्प ध्यानस्थ अवस्था का नाम मुनि यानि साधु है। वो तो अलग अपूर्व दशा है कोई।

इसके पहले, साधु होने के पहले, मोक्ष होने के पहले जीव साधु होता है और साधु होने के पहले जीव साधक होता है - गृहस्थ अविरत सम्यग्दृष्टि, शास्त्रीय शब्द है। ऐसा जो शुद्धात्मा का दर्शन होता है गृहस्थ अवस्था में, तो शुद्धात्मा के दर्शन का नाम ही धर्म है। धर्म का अर्थ **वत्थुसहावो धम्मो** (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४७६)। वस्तु का जो स्वभाव है उसका नाम धर्म है। जैसे नींबू का स्वभाव खट्टा है। तो खट्टापना वो नींबू का स्वभाव, स्वभाव का अर्थ धर्म। स्वभाव का (अर्थ) धर्म। धर्म (अर्थात्) ये संवर-निर्जरा मोक्ष की बात नहीं है। वस्तु का जो स्वभाव है उसका नाम वस्तु का धर्म कहा जाता है। जैसे शक्कर का स्वभाव मीठापना - Sweetness (है) तो ये शक्कर का स्वभाव है। और अफ़ीम का स्वभाव कड़वा है; वो उसका स्वभाव होने से उसका धर्म है। ऐसे ही ये आत्मा नाम का एक पदार्थ है। जैसे नींबू, शक्कर, अफ़ीम ये सब पदार्थ हैं जगत के, ये पुद्गल की जाति हैं, मूर्तिक हैं; और ये आत्मा है (ये) अरूपी, अमूर्तिक है। मगर जैसे नींबू में खटास भरी है, शक्कर में मिठास भरी है, अफीम में कड़वाहट भरपूर-भरचक भरी है, ऐसे ही भगवान आत्मा वस्तु होने से उसमें ज्ञान-आनंद भरा है, छलोछल भरा है। आहाहा! जैसे पानी का लोटा, वो पानी से भरा है। ऐसे ये काशीघाट का लोटा है, इसमें आत्मा का ज्ञान और आनंद अंदर छलोछल भरा है, शक्तिरूप से है। ऐसा आत्मा का स्वभाव है उसके सन्मुख होकर जब आत्मा का ज्ञान-भान-अनुभव होता है, तो जो शक्ति में ज्ञान और आनंद था,

उस ज्ञान और आनंद का ज्वार आता है। जैसे समुद्र में ज्वार आता है - लहर, ऐसे परिणाम प्रगट हो जाता है। ये जो परिणाम प्रगट होता है ज्ञान-आनंद का वो आत्मा का स्वभाव है। वो स्वभाव होने से धर्म है। वो धर्म होने से अतीन्द्रिय सुख का स्वाद आता है उसमें। आहाहा!

ऐसे आत्मा को आत्मा ने आज तक कभी एक सेकंड, एक समय मात्र (के लिए भी) आत्मा को जाना नहीं है। अनात्मा को आत्मा माना, पर को आत्मा माना मगर पर को आत्मा मानने से आत्मा चार गति के दुःख भोगता है। उस दुःख से छूटने का उपाय (ये है कि) अपने स्वरूप को पहचानो और अपने स्वरूप में एकाग्र होकर उसका ध्यान करने से आत्मा में आनंद बाहर में प्रगट होता है। ज्ञान-आनंद भरा है वो बाहर निकलता है। ऐसे इस आत्मा का स्वरूप बतानेवाला एक परमागम शास्त्र, समयसार शास्त्र है; जो आज से दो हजार साल पहले कुंदकुंदाचार्य भगवान ने ताड़पत्र पर लिखा है। उसकी टीका है और उसका अनुवाद चलता है।

इंद्रिय को जीतने का प्रयोग। इंद्रिय को जीतने से क्या होता है? कि आत्मभान होता है। तो इंद्रिय को कैसे जीता जाए? कि आँख बंद कर दूँ? देखना ही बंद कर दूँ, तो इंद्रिय की जीत हो गई? नहीं! कान के अंदर लकड़ी की डट्टी लगा दें तो इंद्रियजीत होता नहीं है। वो अलग type (प्रकार) है। वो तो परवस्तु है मगर अंदर का जो उघाड़ है वो बहिर्मुख जाता है वो मेरा धर्म नहीं, मेरा स्वभाव नहीं, मेरा परिणाम भी नहीं है। उससे मैं भिन्न हूँ। इस भिन्न का भान होता है तो उसका व्यापार अटक जाता है और नया व्यापार अंदर में शुरू हो जाता है उसका नाम अनुभूति है। ये बात कैसे होवे आत्मा को, वो बताते हैं।

**तीनों इन्द्रियों को जीतकर** यानि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और भावेन्द्रिय के विषय- बाहर के पदार्थ, उन तीन को जीतने से यानि तीन का लक्ष छोड़ने से.... जीतने का अर्थ क्या है? उसका लक्ष छोड़ देना। ये द्रव्येन्द्रिय आँख मेरी है (ऐसी) बुद्धि छोड़ देना। आँख का स्वामी पुद्गल है, मैं उसका स्वामी (नहीं हूँ), (वो) मेरी चीज नहीं है। और क्षयोपशम ज्ञान का जो उघाड़ है वो ज्ञान व्यवहारज्ञान है, उसका स्वामी ज्ञेय है, उसका स्वामी मैं नहीं हूँ। ऐसे उसका लक्ष छोड़कर और उसको इंद्रिय (के) द्वारा जो जानने में आता है उसका लक्ष छोड़कर, उन तीनों का लक्ष छोड़कर अंतरध्यान में आत्मा आता है तब आत्मा का दर्शन हो जाता है।

तो ज्ञेय और **ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष**... ज्ञायक तो शुद्धात्मा है और जो इन्द्रियज्ञान - उघाड़ है उसका नाम ज्ञेय है। ज्ञेय भिन्न है और जाननेवाला भिन्न है। वो जो जाननेवाला आत्मा (है, वो) अतीन्द्रियज्ञानमयी है और ज्ञेय यानि जो इन्द्रियज्ञान का व्यापार अंदर में उत्पन्न होता है-बहिर्मुख, वो ज्ञान नहीं है मगर ज्ञेय है। उस ज्ञेय से ज्ञान भिन्न है। इन्द्रियज्ञान को सारा जगत ज्ञान मानता है मगर (वो) ज्ञान नहीं है। ज्ञान की व्याख्या ऐसी है कि जो ज्ञान आत्मा को प्रसिद्ध करे उसका नाम ज्ञान है। सूर्य को प्रसिद्ध करे उसका नाम ही प्रकाश है। वो जो प्रकाश पृथ्वी को प्रसिद्ध करे और सूर्य को प्रसिद्ध नहीं करे, तो वो प्रकाश ही नहीं (है)। ऐसे जो ज्ञान है वो आत्मा का है, वो आत्मा को प्रसिद्ध करे तो ज्ञान है। और इन्द्रियज्ञान जो है बहिर्मुख, वो आत्मा को प्रसिद्ध नहीं करता, पर को प्रसिद्ध करता है। तो पर को प्रसिद्ध करनेवाला जो ज्ञान है, वो अज्ञान है। ज्ञेय है अर्थात् अ-ज्ञान है। अज्ञान यानि

आत्मा को प्रसिद्ध न करे उसका नाम अ-ज्ञान है।

तो इन **(तीनों को) जीतकर, ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होने से** भेदविज्ञान हो गया। भेदज्ञान हुआ। जैसे कपड़ा मैला है (ऐसा कहा जाता है किन्तु) कपड़ा मैला नहीं है। सचमुच (तो) कपड़े की अवस्था मलिन है और इससे सूक्ष्म में जाओ तो मिट्टी मलिन है। क्या कहा? रमणीकभाई!

कपड़ा मैला हुआ – माता ऐसा कहे (कि) कपड़ा धोना है, साफ करना है। तो कपड़ा मैला है - ऐसे मैल के संयोग-संबंध से कपड़ा सफेद होने पर भी, सफेद और स्वच्छ होने पर भी मिट्टी का संयोग देखकर कपड़े को मैला कहना वो उपचार-व्यवहार का कथन है; सचमुच कपड़ा मैला नहीं है। दिखाई देता है जो ऊपर-ऊपर, ऊपरी-ऊपरी (दृष्टि) से (जो) दिखायी देता है वो कपड़ा नहीं है। कपड़ा इससे भीतर में सफेद और स्वच्छ है; दूध जैसा सफेद है। मगर व्यवहारनय से देखो तो कपड़े की अवस्था मलिन हुई है, वो व्यवहारनय का कथन है। सचमुच वो जो अवस्था है वो मिट्टी की है क्योंकि कपड़े की जाति की अवस्था का नाम कपड़े की अवस्था कहा जाए। कपड़ा सफेद है और अवस्था मलिन है, तो जाति उसकी (कपड़े की) नहीं है। तो मलिन भाव (का) मिलान करो तो (वो) मिट्टी के साथ मिलता है। तो (वो) मिट्टी का विशेष है, मिट्टी की अवस्था है, सचमुच (वो) कपड़े की अवस्था नहीं है। कपड़े की अवस्था कपड़े से जुदी (पृथक) नहीं पड़ती है और जो जुदी पड़े तो (वो) कपड़े की अवस्था नहीं है। बराबर?

बहनों को तो ये अनुभव है, कपड़े का। इसलिए उनको दृष्टांत ऐसा दिया। हें? जुदा पड़ जाता है ना? जो मैल निकल जाता है.... अगर (वो) कपड़े की अवस्था हो तो निकलना नहीं चाहिए। आत्मा में से ज्ञान नहीं निकलता है। आत्मा में से राग-द्वेष, सुख-दुःख निकल जाता है इसलिए (वो) आत्मा की अवस्था नहीं है; और इन्द्रियज्ञान भी निकल जाता है इसलिए (वो भी) आत्मा की अवस्था नहीं है। आहाहा! रमणीकभाई! ये अभ्यास करने जैसा है।

मुमुक्षु: जुदी पड़ती है वह मेरी (चीज) नहीं।

पू. लालचंदभाई: जुदी पड़ जाती है वह चीज मेरी नहीं है। ये देह चला जाता है। इस देह को जला देंगे कि नहीं सब? आहाहा! तो देह को जला देते हैं और देह तो निकल जाती है, (देह का) वियोग होता है तो देह मेरी चीज नहीं है। ऐसे आठ कर्म का अभाव हो जाता है, जब सिद्ध-परमात्मदशा प्रगट होती है तब आठ कर्म का अभाव हो जाता है। इसलिए आठ कर्म आत्मा की चीज नहीं है। और पुण्य या पाप के परिणाम भी, जब यथाख्यात् चारित्र हो जाता है - केवलज्ञान, तब ये पुण्य-पाप निकल जाते हैं, तो वो मेरी चीज नहीं है। ऐसे इन्द्रियज्ञान, जब केवलज्ञान प्रगट होता है तो (वो भी) निकल जाता है। निकल जाए वो मेरी चीज नहीं है।

और ऐसे ही कपड़े की अवस्था मलिन है, वो निकल जाती है इसलिए (वो अवस्था) मेरी नहीं है और कपड़े की जाति नहीं है। कपड़ा सफेद है और अवस्था मलिन है - ऐसा होता नहीं है। जैसा सामान्य वैसा विशेष होना चाहिए। तो ये मैल निकल जाता है, तो कपड़ा मैला है ऐसा कहना वो उपचार का, व्यवहार का कथन है यानि झूठा कथन है। कपड़े को सफेद कहना - वो सच्चा कथन है।

ऐसे आत्मा को रागी कहना - ये झूठा कथन है। आत्मा ज्ञानमय है, रागमय नहीं है। आहाहा! राग पर दृष्टि है तो रागी दिखाई देता है। जब वो दृष्टि पलटती है और ज्ञायक पर दृष्टि जाती है तो मैं तो जाननहार हूँ, रागी मैं नहीं हूँ। आहाहा! ऐसा भेदज्ञान करने से आत्मा का अनुभव होता है। उस अनुभव का नाम धर्म है। उसका नाम धर्मध्यान और शुक्लध्यान है।

ऐसे आचार्य महाराज (की) भेदज्ञान की बंसी बजती है कि भगवान आत्मा भिन्न और राग भिन्न है। अतीन्द्रियज्ञानमय निज परमात्मा भिन्न है और जो इन्द्रियज्ञान ज्ञेय है वो भिन्न है। ज्ञान भिन्न और ज्ञेय भिन्न। ज्ञान भिन्न और राग भिन्न। आहाहा! ज्ञान यानि ये ज्ञानमयी आत्मा।

ऐसे वह **सब दूर होनेसे** एकत्वबुद्धि छूट गई। इन्द्रियज्ञान मेरा नहीं है। ममत्व(बुद्धि) छूट गई। क्या कहा? ये चिदानंद भगवान आत्मा अंतर्दृष्टि से दिखाई देता है और बहिर्दृष्टि से रूपी पदार्थ दिखाई देते हैं। जो दिखाई देता है उसमें अहम् कर लेता है। देह दिखे तो देह मेरा, कुटुंब दिखे तो कुटुंब मेरा, मोटर, बंगला, पैसा। आहाहा! ये दुकान दिखे मीठाभाई की कपड़े की, तो मेरी। और 'प्रणाम-संकल्प' (बिल्डिंग) में ready-made (बना-बनाया) की दुकान दिखे तो दुकान मेरी। नरेंद्रभाई कहें मेरी। नरेंद्रभाई की दुकान नहीं है। ये बहिर्दृष्टि से जो देखने में आता है उसमें मोह कर लेता है, मेरापना। वो चीज मेरी होती नहीं है। मेरेपने की मिथ्याबुद्धि होती है (उससे) वो दुःखी होता है। मोह से दुःखी होता है। मोह छूट जाता है तो आत्मा सुखी हो जाता है। ऐसे ये भगवान बनने का मंत्र है। ये समयसार है ना वो सबको परमात्मा बना देता है। बहिरात्मा में से अंतरात्मा में आता है और अंतरात्मा में आए तो अल्पकाल में परमात्मा बन जाता है। चार गति में भटकना है इसके लिए समयसार नहीं है। छूटना हो दुःख से, इसके लिए ये है शास्त्र। (जिसको) गति प्रिय है उसके लिए समयसार निमित्त नहीं पड़ता है। आहाहा!

ऐसे **संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होनेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण** एकत्व यानि आत्मा एकरूप है, ज्ञान-दर्शनमय है आत्मा। ज्ञान-दर्शनवाला नहीं, ज्ञान-दर्शनमय है। 'मय' अनन्य एकरूप तादात्म्य है। आत्मा ज्ञान-आनंद से तादात्म्य है और राग-द्वेष तो संयोग-संबंध है, निकल जाता है। और इन्द्रियज्ञान भी संयोग-संबंध है, (वो भी) निकल जाता है। उसके साथ आत्मा का तादात्म्य संबंध (नहीं है)। तादात्म्य संबंध किसको कहें? कि तीनों काल उसके साथ रहे और जुदा पड़े (नहीं)। शक्कर और मिठास उसके साथ... शक्कर का मिठास के साथ तादात्म्य संबंध है। वो जुदा पड़ती नहीं है। लेबोरेटरी में भेजो कि भाई इसमें से मिठास निकाल दो, तो मिठास नहीं निकलती है। मिठास निकल जाये तो शक्कर ही रहती नहीं है। हाँ! मैल निकल जाता है क्योंकि मैल के साथ शक्कर का संयोग-संबंध है। जैसे कपड़े के साथ मैल का संयोग-संबंध है मगर कपड़े के साथ जो सफेदपना है, श्वेतपना है, वो तो तादात्म्यसंबंध है। कपड़े का मैल निकलता है मगर श्वेतपना, सफेदपना कपड़े का, (उनका) तादात्म्य-तद्रूप-अनन्य संबंध है; वो सफेदपना निकलता नहीं है। ऐसे आत्मा में से अज्ञान निकल जाता है (मगर) ज्ञान निकलता नहीं है। अज्ञान दूर हो जाता है मगर ज्ञान आत्मा से दूर होता नहीं है। आहाहा!

ऐसे **एकत्वमें टंकोत्कीर्ण** एकत्व यानि एकपना, एकपना। एकत्व यानि एकपना है। आत्मा एक

का दो नहीं होता है। आत्मा अपना एकरूप जो है उसको छोड़कर दोरूप नहीं होता है। कभी मनुष्य हो गया तो कभी देव हो गया और कभी पुण्यवाला हो गया; तीन काल में आत्मा पुण्य-पापरूप होता ही नहीं है। वो तो अलग चीज है। मान्यता कर ली है, एकत्वबुद्धि। वो भूल निकल जाती है तो आत्मा एकत्व(रूप) है; एक हूँ, मैं एक हूँ - ऐसा भान आ जाता है।

**एकत्वमें टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभावके द्वारा** टंकोत्कीर्ण यानि वैसा का वैसा। जैसे ये प्रतिमाजी है। एक बार गढ़ी तो वो प्रतिमा वैसी की वैसी रहती है। कुछ उसमें बढ़-घट होती नहीं है। ऐसे ये आत्मा है (ये) चैतन्य-प्रतिमा है। उसे तो कारीगर गढ़ता है (मगर) इसको कोई गढ़नेवाला नहीं है। अघटित घाट है यह तो। अनादि-अनंत चैतन्य परमात्मा जैसा का तैसा है। नरक में जाए, निगोद में जाए, देव में जाए, आहाहा! तो भी भगवान आत्मा अपना टंकोत्कीर्ण स्वभाव छोड़ता नहीं है। उसमें बढ़-घट होती नहीं है आत्मा में। जिसमें बढ़-घट होती है वो आत्मा नहीं है; वो परभाव है, परद्रव्य है। परद्रव्य में बढ़-घट होती है, स्वद्रव्य में बढ़-घट नहीं होती है।

ऐसे **टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभावके द्वारा** यानि अपना जो ज्ञानस्वभाव त्रिकाली सामान्य है ज्ञायक वो मैं हूँ - इसके द्वारा **सर्व अन्यद्रव्योंसे परमार्थ से भिन्न** आहाहा! इस भगवान आत्मा के अलावा.. ये भगवान है अंदर विराजमान है। आहाहा! देह-देवल में... ये देवल है देव का, उसमें चैतन्य-प्रतिमा अलग है। आहाहा! वैसा का वैसा अंदर विराजमान है।

भगवान का दर्शन करने से धर्म होता है। बालक को माता कहे कि मंदिर जाना और प्रभु का, भगवान का दर्शन रोज करना तो तुझे धर्म होगा। भगवान का दर्शन करने से धर्म होगा वो वाक्य सच्चा है, वो वाक्य सच्चा है। मगर भगवान तो एक प्रकार का अंदर में है, उस भगवान का दर्शन करने से धर्म होता है। इन परमात्मा का दर्शन करने से पुण्य होता है, धर्म होता नहीं है। तो भी वो परमात्मा अपने स्वरूप को स्मरण में लाने के लिए निमित्त हैं इसलिए उन भगवान के दर्शन की विधि चलती है। ये क्यों दर्शन करने को आते हैं?

एक बार ऐसा हुआ चिमनभाई! कि मैं इंदौर गया था। तो वहाँ एक १०-१५ किलोमिटर दूर एक मंदिर नया बना था। तो वहाँ का आमंत्रण आया कि आप जीमकर (भोजन करके) शाम को घूमने को, फिरने को आओ। उस तरफ आओ हमारा मंदिर देखने के लिए, दर्शन करने के लिए। अच्छा, मैंने कहा। तो (मैं) ५-१० मुमुक्षु के साथ वहाँ गया। वो भाई भी सब उस हिसाब से (वहाँ) थे, वहाँ के रहनेवाले लोग भी।

दर्शन किये, सब बैठे तो बात निकली कि ये प्रतिमा का दर्शन करने का क्या कारण है? ऐसा किसी ने पूछा। ये प्रतिमा-भगवान का दर्शन करने से क्या लाभ होता है? मैंने कहा कि आत्मलाभ होता है। आत्मलाभ होता है? हाँ! आत्मलाभ होता है। कैसे? कैसे होता है? तो उसके लिए मैंने दृष्टांत एक दिया कि एक जंगल के अंदर सिंहनी है ना, सिंहनी? जैसे गीर के जंगल में सिंह-सिंहनी रहते हैं ना। तो उसकी प्रसूति हुई। हाँ! प्रसूति हुई तो उसके बच्चे हुए। तो दो-तीन बच्चों में से एक बच्चा अलग हो गया, अलग पड़ गया। तो वो भेड़ों के साथ, चरवाहे के साथ (जाकर) उसमें (झुंड में) मिल गया। तो वो भी बड़ा होने लगा भेड़ों के साथ। तो भेड़ों के साथ रहने से, जिसको देखे 'ऐसा ही मैं हूँ' - ऐसी भ्रांति हो

गई। अपना स्वरूप तो भूल गया। मैं सिंह हूँ वो भूल गया। जिसको देखता है उसके साथ रमता है-खेलता है तो "मैं भी भेड़ हूँ"। आहाहा! घेटा, आप घेटा को क्या कहते हैं, घेटा? भेड़-भेड़। भेड़ कहते हैं। हाँ! वो ऊन होती है ना उसके ऊपर, ऊन। हाँ! भेड़, भेड़। भेड़ समझ में आया ना, भेड़? अच्छा! तो ऐसा हुआ वो बड़ा होता गया धीरे-धीरे-धीरे। उस चरवाहे ने सोचा कि वो भटक गया है तो उसको भी साथ में रखता हूँ। तो थोड़ा-थोड़ा बड़ा होने लगा।

एक दफे क्या हुआ कि जंगल में सब जाते थे, उसके सामने एक टेकरी थी। वहाँ टेकरी पर सिंह आया। सिंह ने उसको देखा। अरे! ये तो मेरी जाति का बच्चा सिंह, ये भेड़ की जाति में कहाँ मिश्रित हो गया है? वे तो भेड़ हैं और ये तो सिंह है; मेरी जाति का बच्चा है। अब इसको छुड़ाना कैसे उसमें से? उसको (बच्चे को) भ्रांति तो हो गई, वो तो भ्रांति हो गई थी ना। भेड़ तो हुआ (नहीं था)। सिंह तो सिंह का बच्चा था। सिंह का बच्चा तो सिंह का बच्चा होता है। तो उसने वहाँ से उसकी भाषा में एक दहाड़ मारी, आवाज दी उसकी भाषा में। तो वो सिंह की वृत्ति तो बैठी (ही) थी अंदर, वृत्ति। वृत्ति उठी, देखा। उसने कहा वहाँ से कि "पहले तू मेरे सामने देख। मेरे सामने देखने के बाद तू तेरे सामने देखना।" तो ऐसा किया (वहाँ देखा) उसने, ऐसा करके (वहाँ देखकर) ऐसा किया (स्वयं को देखा)। अरे! मैं तो सिंह हूँ! कूदकर निकल गया बाहर। समझे? बाहर निकल गया।

मुमुक्षु: अपनी शक्ति का ख्याल आ गया।

पू. लालचंदभाई: ख्याल आ गया।

ऐसे ये जो प्रतिमा का व्यवहार है, (वो) सही है। उसमें क्या फायदा होता है? कि चौबीस घंटा व्यापार-रोजगार में पड़ा हो आत्मा, उसमें चौबीस घंटे में कोई सुबह में आता है तो कोई शाम को दर्शन करने को आता है। तो उस प्रतिमा को देखकर जो चौबीस घंटे में अपने आत्मा का विस्मरण हो गया था, जैसे सिंह के बच्चे को स्वरूप का विस्मरण (हो गया था)। था तो सिंह। था तो सिंह मगर भेड़-मेंढा है - ऐसी भ्रांति हो गई। तो चौबीस घंटे में मैं व्यापारी हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं व्यापारी हूँ, भ्रांति हो गई। मैं मनुष्य हूँ, मनुष्य हूँ, मैं पैसा कमानेवाला हूँ (ऐसी) भ्रांति हो गई थी। तो मंदिरजी में आया दर्शन करने को, आहाहा! परमात्मा के दर्शन करता है। "हे अरिहंत परमात्मा! जैसा आपका स्वरूप है ऐसा (ही) मेरा स्वरूप है।" उनके दर्शन करने से अपने स्वरूप का स्मरण आता है। उस स्वरूप का स्मरण आते-आते, वहीं दर्शन करते-करते सम्यग्दर्शन हो जाता है। उस प्रतिमा का दर्शन सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण है, ऐसा आगम में लिखा है। सही है! क्योंकि उसको देखने के बाद, अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने के बाद, आत्मा जब अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है (तो) उसका मोह क्षय हो जाता है। उसके साथ मिलान कर लेता है।

जैसे सिंह ने कहा कि मेरे सामने देख, सिंह ने कहा कि मेरे सामने देख। ऐसे (ही) भगवान ने कहा कि मेरे सामने देख और बाद में भगवान ने कहा कि (अब तू) तेरे सामने देख; तो जैसा मैं ऐसा तू। ऐसा सिंह ने देखा। आहाहा! ऐसा जब देखता है तो कूदकर, संसार से बाहर (निकलकर) सिद्ध हो जाता है। जैसे बच्चा निकल गया ना, ऐसे ये आत्मा चार गति छोड़ देता है, अल्पकाल में। ऐसा निमित्त है वो। ऐसे ही फिजूल नहीं है (जिनेन्द्र का दर्शन)।

मुमुक्षु: श्रीमद्‌जी ने कहा था कि जिन-प्रतिमा स्वरूप का कारण और ध्यान का कार्य है, ऐसी जो जिन-प्रतिमा, उससे लाखों लोग विमुख हुए।

पू. लालचंदभाई: बराबर!

मुमुक्षु: स्थानकवासी संप्रदाय मे।

पू. लालचंदभाई: हाँ! विमुख हुए। विमुख हुए। बस! श्रीमद् का वाक्य बराबर है।

आहाहा! ये तो परमात्मा हैं ना अपने स्वरूप को स्मरण करने के लिए हैं। वो तो अपने स्वरूप में लीन हैं। वो तो कोई कहते नहीं हैं कि तू तेरे को देख। मगर उनको देखने से, अपने स्वरूप का जो विस्मरण हुआ था व्यापार में, चौबीस घंटे में... आहाहा! आत्मा को याद ही नहीं करता था। मगर मंदिर में आने से थोड़ी कषाय की शांति होती है, मंदता होती है। व्यापार का तो (कषाय नहीं), ग्राहक तो है नहीं वहाँ कोई। हें? दाल का ग्राहक मंदिर में तो आता नहीं है। हें? दुकान पर आएगा। ये दाल के व्यापारी हैं, बड़े व्यापारी हैं।

यहाँ तो कोई है नहीं ग्राहक। यहाँ तो प्रभु का दर्शन करता है। दर्शन करके, आहाहा! आप अरिहंत हैं, व्यक्तरूप अरिहंत हो गए। मैं शक्तिरूप सिद्ध हूँ, अरिहंत हूँ। आहाहा! मैं अपने स्वरूप को भूल गया हूँ। प्रभु! आपका जैसा स्वरूप (है) वैसा ही मेरा स्वरूप है। आपकी जाति और मेरी जाति एक है। आपकी जाति और मेरी जाति में फर्क नहीं है। भले भेड़ के बीच में वो बच्चा आ गया लेकिन सिंह ने कहा कि ये मेरी जाति (का) है, भेड़ की जाति (का) नहीं है। मैं सिद्ध समान आत्मा हूँ, तो उनका दर्शन करने से अनुभव होता है।

अच्छा! भगवान की प्रतिमा (का दर्शन) करो, पूजा करो तो शुभभाव हो। शुभभाव नहीं, ज्ञान होता है आत्मा का। आहाहा! शुभभाव को गौण कर दो, पुण्य बंधता है उसको गौण कर दे। पुण्य बंधता है इसलिए मैं मंदिर में जाता नहीं हूँ। मैं मेरे स्वरूप का स्मरण करने के लिए प्रतिमा के सामने खड़ा होता हूँ। प्रभु! जैसा आपका स्वरूप (है) वैसा मेरा स्वरूप है! इस(के) लिए प्रतिमा है। शुभभाव के लिए प्रतिमा नहीं है। आहाहा!

ऐसे भेदज्ञान का मंत्र चलता है कि अतीन्द्रियज्ञानमयी आत्मा भिन्न है और पर को प्रसिद्ध करनेवाला इन्द्रियज्ञान भिन्न है। ज्ञेय भिन्न और ज्ञान भिन्न। आहाहा! ज्ञान से ज्ञान का भेदज्ञान; यानि इन्द्रियज्ञान व्यवहारज्ञान है और भगवान आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमयी - ये निश्चयज्ञान है। निश्चयज्ञान से व्यवहारज्ञान भिन्न है। व्यवहारज्ञान कहो, अज्ञान कहो (या) ज्ञेय कहो। आहाहा!

ऐसे **ज्ञानस्वभावके द्वारा सर्व अन्यद्रव्योंसे** अन्य द्रव्यों से यानि पुण्य-पाप के परिणाम से, इन्द्रियज्ञान से, नव तत्त्व का जो भेद है, उससे अलग-भिन्न हूँ आत्मा। गुणस्थान, चौदह मार्गणास्थान, उन परिणाममात्र से मेरा आत्मा भिन्न है। वो अन्य द्रव्य है, स्वद्रव्य नहीं है। **अन्यद्रव्योंसे परमार्थ से भिन्न**, परमार्थ से यानि सचमुच भिन्न **ऐसे अपने आत्माका अनुभव करता है**, जब आत्मा इन्द्रियज्ञान का लक्ष छोड़कर अतीन्द्रियज्ञानमयी आत्मा में उपयोग लगाता है। आहाहा! आत्मा में, उपयोग आत्मा में लगाता है उसका नाम योग है और उपयोग आत्मा में लग जाए उसका नाम योगी है। आत्मा है उसके प्रति उपयोग जब लगता है, तो उपयोग को आत्मा की ओर झुककर लगाना उसका नाम योग

है; और उसका अनन्य अनुभव होना, उसका नाम योगी है। आहाहा! योगी है, ध्यानी है, ज्ञानी है।

ऐसे जब अपने आत्मा को आत्मा अनुभवता है.... पुण्य-पाप का अनुभव तो अनंतबार किया, पुण्य-पाप का अनुभव करके आज तक तो दुःखी हुआ। अब पुण्य-पाप के अनुभव को छोड़कर इस जाननेवाले को जान ले। आहाहा! कि मैं तो जाननहार हूँ; मैं पुण्य-पाप का करनेवाला नहीं हूँ और पुण्य-पाप का जाननेवाला भी मैं नहीं हूँ। करनेवाला तो नहीं हूँ (मगर) जाननेवाला (भी) मैं नहीं हूँ। उसको जाननेवाला जुदा है। पुण्य-पाप को करनेवाला जुदा है और पुण्य-पाप को जाननेवाला भी जुदा है; उससे मैं जुदा हूँ। आहाहा!

क्या कहा? कि पुण्य-पाप का परिणाम जो विकार भाव है, उसको करनेवाला पुद्गल है; मैं उसे करनेवाला नहीं हूँ, इसलिए मैं अकर्ता हूँ। पुण्य-पाप को करनेवाला द्रव्यकर्म है; मैं उसको करनेवाला नहीं हूँ, इसलिए मैं अकर्ता हूँ। और उसको जाननेवाला इन्द्रियज्ञान है; मैं (उसका) जाननेवाला भी नहीं हूँ। उससे मैं जुदा जाननेवाले को जानता हूँ वो मैं हूँ। मेरे जानने का विषय पुण्य-पाप नहीं है। करने का विषय पुण्य-पाप नहीं है और जानने का विषय भी पुण्य-पाप नहीं है; जानने का विषय मेरा आत्मा है। मेरे आत्मा को जानने से मेरे को शांति होती है।

ऐसे **अपने आत्माका अनुभव करता है** एक-एक शब्द का ये विस्तार चलता है। आहाहा! **स्वयं के** यानि अपने आत्मा को जब आत्मा अनुभव करता है, **वह**, **वह** वह साधक आत्मा, अनुभवी आत्मा **'जितेन्द्रिय जिन' है।** आहाहा! इन्द्रियज्ञान से अधिक आत्मा को, अतीन्द्रियज्ञानमयी आत्मा को अनुभव में लिया तो जिन हो गया। आहाहा! इसका नाम ईषत् जिन है, छोटा जिन; बड़ा जिन नहीं हुआ (अभी) मगर जिन की जाति है। ये अरिहंत की जाति प्रगट हो गई। अरिहंत होने के पहले, अरिहंत का छोटा जिन हो गया। आहाहा! मोह को जीत लिया, इन्द्रियज्ञान को जीत लिया, निर्मोही हो गया, अतीन्द्रियज्ञानमयी हो गया, तो 'जितेन्द्रिय जिन' (हो गया)। आहाहा! into-comma (उद्धरण में - ' ') में लिखा है। **'जितेन्द्रिय जिन'।** आहाहा! जिसने आत्मा का अनुभव किया उसका नाम जिन है। आहाहा! जैन नहीं, जिन है। आहाहा! 'जिन' तो ये अरिहंत की जाति का हो गया। आहाहा! जितेन्द्रिय जिन, इंद्रिय को जीत लिया इसलिए उसका नाम जिन हो गया।

**ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है**, यानि जो चैतन्य परमात्मा है, ज्ञानस्वभावी आत्मा है, वो अन्य अचेतन देह आदि, पुद्गल आदि, पैसा आदि, ये धन-धान्य आदि, ये हीरा-मोती-माणिक आदि वो अचेतन हैं, उनमें चेतन परमात्मा नहीं है। उससे भगवान आत्मा अलग है। **अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है**, और पुण्य और पाप का परिणाम (भी) अचेतन है, उसमें आत्मा नहीं है। आहाहा! हिंसा-अहिंसा का परिणाम जो आस्रव तत्त्व है अचेतन, उसमें चेतन आत्मा नहीं है। **इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक,** सर्व से जुदा, **अधिक** यानि उससे जुदा मैं हूँ। आहाहा! **भिन्न ही है। सबसे अधिक, भिन्न ही है।**

**कैसा है यह ज्ञानस्वभाव?** जो पर से अलग हो गया और दृष्टि में ज्ञानस्वभाव आ गया, वो ज्ञानस्वभाव कैसा है? ये ज्ञानस्वभाव जो दृष्टि में आया, ये कैसा है? वो दृष्टिवंत बताते हैं। जिसको सम्यग्दृष्टि, सच्ची दृष्टि हो गई, सम्यक् यानि सच्ची-समीचीन, सच्ची दृष्टि हो गई; जैसा आत्मा है ऐसे

आत्मा की दृष्टि, अनुभव में आ गया, तो वो फरमाते हैं अनुभवी **कैसा है यह ज्ञानस्वभाव?** आत्मा जो अनुभव में आया.... अनुभव में आने के बाद शास्त्र लिखते हैं। आहाहा! अज्ञानी लिखता है ना, वो बही-खाते (चोपड़ा) लिखता है। अज्ञानी शास्त्र नहीं लिख सकता है। आहाहा! बही-खाते तो बहुत हैं, हजारों, लाखों, करोड़ों मगर शास्त्र, आहाहा! वो तो आत्मा (का) अनुभवी (ही) लिख सकता है।

**कैसा है यह ज्ञानस्वभाव?** ये जो अनुभव में आया, पर से जुदा, इस आत्मा का स्वभाव क्या है? **इस विश्व के (समस्त पदार्थोंके) ऊपर तिरता हुआ** सारा जो विश्व है, बाहर का विश्व है, इससे **तिरता** यानि जुदा, **तिरता** यानि जुदा। जैसे लकड़ी है पानी में तैरती है मगर पानी से अलग रहती है। वो लकड़ी पानीमय होती नहीं है। वो ऊपर-ऊपर तैरती है; वो पानीमय होती नहीं है। वो डूबती नहीं है। पानी के ऊपर होने पर भी वो पानी में घुस जाती नहीं है। ऊपर-ऊपर तैरती है। ऐसे **इस विश्व के (समस्त पदार्थोंके) ऊपर तिरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ),** आहाहा! ये सारा विश्व ज्ञान के अंदर ज्ञेय होने पर भी वो आत्मा विश्वरूप यानि अनेकरूप होता नहीं है; विश्व का अर्थ अनेक। आत्मा एकपना छोड़ता नहीं और अनेकरूप होता नहीं है त्रिकाल में। अच्छा! एक बाहर के विश्व से तो जुदा है मगर एक अंदर के विश्व से (भी) जुदा है, अंदर का (विश्व)। अंदर का विश्व क्या है? कि आत्मा अभेद सामान्य एक है। उसकी जो अवस्था होती है, अनंत गुण की अनंत पर्याय - वो अंदर का विश्व है; उस विश्व से भी आत्मा जुदा है। आहाहा! दो प्रकार के विश्व हैं। एक बाहर का (और) एक अंतरंग का, अंदर का विश्व; (उन) दो विश्वों से आत्मा जुदा अभेद सामान्य एकरूप है। आहाहा!

फिर से, अंदर का विश्व। जो क्रोध-मान-माया-लोभ, व्रत-अव्रत, दया-दान, हिंसा-अहिंसा का जो परिणाम होता है अथवा जो गुणस्थान का परिणाम होता है, मार्गणास्थान का परिणाम होता है, उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय होती है ना, पर्याय, वो पर्याय है न, अनेकरूप है और द्रव्य तो एकरूप है। पर्याय अनेकरूप है। तो विश्व का अर्थ अनेकपना, जहाँ अनेकपना हो उसका नाम विश्व है। जैसे ये छह द्रव्य से भरा हुआ लोक है, वो अनेक हो गया ना - अनंत जीव, अनंत पुद्गल परमाणु, सारा विश्व। इस विश्व से जुदा - बाहर के विश्व से (जैसे) जुदा है, ऐसे अंदर के विश्व से भी आत्मा जुदा है। विश्व में अनेकपना है, मेरे में अनेकपना नहीं है। मैं तो एक टंकोत्कीर्ण परमात्मा हूँ। आहाहा! एकोहम्! एकोहम्! मैं एक हूँ, अनेक भाव मेरा नहीं है। एक अविनाशी है और अनेक जो परिणाम प्रगट होता है, वो तो नाशवान है। नाशवान मैं नहीं हूँ। पर्यायदृष्टि छूट गई, द्रव्यदृष्टि हो गई, अनुभव हो गया; अनुभव के बाद (पूछा कि) ये ज्ञानस्वभाव कैसा है? तो कहे कि सारे विश्व से जुदा है। विश्व दिखायी देता है मगर विश्वमय होता नहीं है। ऐसे अनंत पर्यायें ज्ञान में ज्ञेयरूप दिखायी देती हैं मगर ज्ञान अनेकरूप होता नहीं है। आहाहा! अंदर में अनेकरूप जो पर्याय दिखती हैं, वो ज्ञेय है और ध्येय तो एक है। ज्ञेय अनेक हैं (परंतु) ध्येय तो (एक ही है)। आहाहा! मैं तो ध्येय का ध्यान करता हूँ, ज्ञेय का ध्यान करता नहीं हूँ। अंदर की बात है। रमणीकभाई!

जैनदर्शन हो गया! अनेक हैं पर्याय और आत्मा एकरूप है। कौन ना बोलता है? मगर मैं अनेकरूप हूँ कि मैं एकरूप हूँ? आहाहा! अनेक की अस्ति, मेरे में नास्ति, ऐसी मेरी एकरूप अस्ति - ऐसी मस्ती उसका नाम अनुभव है।

अनेक की अस्ति है। पर्यायें अनेक (हैं), अनंत पर्यायें (हैं)। कौन ना बोलता है? अनंत गुण हैं, तो अनंत गुण की अवस्था भी समय-समय स्वयं प्रगट होती है; आत्मा करनेवाला नहीं है। आहाहा! नैसर्गिक है वो, पर्याय का उत्पाद नैसर्गिक है। आत्मा उत्पाद का उत्पादक नहीं है। सचमुच (तो) उत्पादक का जाननेवाला भी नहीं है। वो तो बात है सूक्ष्म, लोहा काटे छैनी।

मुमुक्षु: स्वतंत्र शक्ति से, उसके गुण की स्वतंत्र शक्ति से।

पू. लालचंदभाई: स्वतंत्र शक्ति है। गुण पर्याय का कर्ता नहीं है, द्रव्य पर्याय का कर्ता नहीं है। पर्याय स्वयं सत् अहेतुक स्वकाल में प्रगट होती है और व्यय हो जाती है। ऐसा अंदर का विश्वपना (है)। पर्याय अनंत हैं; अनंत गुण हैं तो अनंत पर्याय समयवर्ती प्रगट होती हैं। मगर जो अनंत पर्यायें प्रगट होती हैं, उनकी अस्ति है मगर मेरे में (उनकी) नास्ति है। एक में अनेक का अभाव है। अनेक अनेकरूप से है मगर अनेक एकरूप होता नहीं है और एक अनेकरूप होता नहीं है। अंदर का विभाग है।

मुमुक्षु: वो मेरे में नहीं है।

पू. लालचंदभाई: मेरे में नहीं है बस इतना। देह है (मगर) मेरे में नहीं है; मेरा नहीं है देह। ये कुटुंब-कबीला है, है (मगर) मेरे में नहीं है वो; मेरा नहीं है। मेरे में नहीं है इसलिए मेरा नहीं है। ऐसे अनंत पर्याय हैं मगर मेरे में नहीं हैं। मेरे में नहीं हैं इसलिए मेरी चीज नहीं है; इसलिए ममत्व होता नहीं है। पर्यायदृष्टि छूट जाती है और द्रव्यदृष्टि हो जाती है।

मुमुक्षु: master-key (सर्व - कुंची) आपने दे दी।

पू. लालचंदभाई: ये तो कुंदकुंदाचार्य भगवान की देन है - शुद्धात्मा हथेली में बताते हैं। (आचार्य कहते हैं कि) मैं हथेली में बताऊँ (तो) तेरा काम क्या? कि रुचि की आँख खोलना। रुचि की आँख खोलो तो (शुद्धात्मा) दिखाई देगा। इन आँखों से नहीं दिखायी देगा। आहाहा! रुचि, अंदर रुचि चाहिए (कि) मेरे को आत्मा का दर्शन करना है। वो रुचि उत्पन्न हुई तो अंदर का ज्ञान-चक्षु खुल जाता है। वो ज्ञान-चक्षु खुलने से आत्मा का अनुभव हो जाता है।

**कैसा है यह ज्ञानस्वभाव?** उसका विस्तार है। **इस विश्व के ऊपर तिरता** तिरता यानि जुदा, इस विश्व से जुदा। विश्व है, विश्व सिद्ध किया। छह द्रव्य हैं। छह द्रव्य को नहीं माने तो वो सर्वज्ञ को नहीं मानता है। जैनमति नहीं है। अर्थात् **(उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ), प्रत्यक्ष उद्योतपनेसे सदा अन्तरंङ्गमें प्रकाशमान** आहाहा! जाज्वल्यमान-ज्योति है। आहाहा! कहते हैं प्रत्यक्ष है आत्मा, परोक्ष नहीं है। है, प्रगट है। **प्रत्यक्ष उद्योतपनेसे** प्रकाशमानपने से **सदा** तीनों काल, हमेशा अंतरंग में प्रकाशमान है। जाज्वल्यमान-ज्योति, चैतन्य-ज्योति, जगमगाती-ज्योति प्रगट है। क्यों दिखती नहीं है? कि तू देखता नहीं है। क्यों दिखती नहीं है? कि तू देखता नहीं है! तू इधर देखता है। वो तो अंतरंग में है, तू बाहर देखता है। आहाहा! ये वस्तु बाहर नहीं है, अंदर में है। **अंतरंङ्ग में प्रकाशमान**।

वो जैन साहब के घर से हैं, शिकोहाबाद से आए हैं। बहुत प्रमोद आता है। सुनकर बहुत अंदर से प्रमोद आता है, उछाला आता है। आहाहा!

**प्रकाशमान, अविनश्वर** नाशवान मैं नहीं हूँ; मैं तो अनादि-अनंत। आहाहा! **अविनश्वर** नाश

होता है वो मेरी चीज नहीं है। **स्वतःसिद्ध** आहाहा! मैं तो अनादि-अनंत स्वतःसिद्ध हूँ। वो पाँच पदार्थ इकट्ठे हों और आत्मा बन जाए ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है। किसी संयोग से जिसकी उत्पत्ति नहीं है वह वियोग से नाश होता नहीं है - ऐसा श्रीमद् (राजचन्द्रजी) का वचन है। आहाहा! (समयसार कि) छठ्ठी गाथा में भी है वो।

**स्वतःसिद्ध** आत्मा स्वतःसिद्ध है और **परमार्थसत्** आहाहा! परमार्थ से सत् है यानि त्रिकाल सत् है। वो व्यवहारिक सत् हैं--संवर-निर्जरा और मोक्ष, (परंतु) ये तो परमार्थ से सत् है। ये द्रव्य के विशेषण चलते हैं। आत्मा के विशेषण चलते हैं। वो पर्याय विश्वरूप है वो तो मेरे में नहीं है, तो मैं कैसा हूँ? परमार्थ सत् है। आहाहा! आत्मा ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है। उसका लक्ष करो तो संसार का नाश हो जाएगा।